मगसिर कृष्ण २, सोमवार, दिनांक ३०-१२-१९७४, श्लोक-१२-१४, प्रवचन-२०

१२वीं गाथा का भावार्थ। समाधितन्त्र।

भावार्थ - इस जीव के अज्ञानजनित अविद्या संस्कार... अर्थात् कि चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द हूँ, उसके भान बिना, बाह्य शरीर, स्त्री, पुत्रादि मेरे हैं और मैं उनका हूँ, उनका अस्तित्व तो स्वीकार करना पड़े न? स्वयं सच्चिदानन्द शुद्ध... कैसे आज लड़के नहीं आये? गये? अविद्यारूप संस्कार। जो चीज़ उसमें नहीं, उसकी नहीं, उसे अपनी माने। शरीर, वाणी, मन यह सब मैं हूँ। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार यह सब मेरे अंग हैं। शरीर जैसे अंग है, वैसे यह सब मेरे अंगित हैं, ऐसा मानकर अविद्या अज्ञान को सेवन करता है। मूल पूरी मान्यता पर अन्तर है, इस बात की लोगों को खबर नहीं पड़ती। बाहर के आचरण क्रिया और उसका त्याग, उसे माने। मूल गाँठ जो है, वह श्रद्धा की विपरीत है। आहाहा! राग की क्रिया है, वह भी मेरी है और मैं करता हूँ, यह अज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? इस शरीर में कुछ रोग हो तो इसे ऐसा (लगता है) कि मुझे हुआ है। आहाहा!

इस प्रकार **स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से...** अर्थात् कि वह मैं हूँ, वे मेरे हैं, और वह मैं हूँ। अहं—मम। आहाहा! **ये संस्कार मजबूत होते हैं और इनके कारण, अन्य जन्म में भी जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है।** वहाँ जाये तो उसमय है। शरीर यह... यह... यह... इसकी नजर वहाँ है। यह आ गया इसमें। मोक्षप्राभृत में यह आ गया?

मिच्छाणाणे सुरओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मणणए मणुओ॥११॥

कुन्दकुन्दाचार्य की। यह आ गया अन्दर।

शरीर में कुछ होने पर मुझे हुआ है। रोग होने पर मुझे रोग हुआ। आहाहा! यह मूढ़ दशा, अज्ञानदशा। इसके संस्कार दृढ़ होने से फिर से जहाँ जन्मेगा, वहाँ वापस इस शरीर को ही (आत्मा) मानेगा। आहाहा!

अनादि अज्ञान के कारण यह जीव, जो पर्याय (शरीर) उसे प्राप्त होते हैं, उसे

अपना आत्मा समझ लेता है... यह ही मैं हूँ। दूसरा कौन है ? **और उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता जाता है। जैसे - रस्सी के घर्षण से...** रस्सी के घिसावट से यह कुएँ में आता है ? स्कूल में आता था। **रस्सी के घर्षण से कुएँ के पत्थर पर निशान अधिक से अधिक गहरा होता जाता है; वैसे ही अज्ञानी जीव में अविद्या के संस्कार भी अधिक से अधिक गहरे उतरते जाते हैं।** मरने के समय भी इस प्रकार के संस्कार हैं तो उन संस्कार में असमाधि करके मरकर जाये... गति करे (तब) आहाहा!

अविद्या के संस्कारों से प्रेरित यह जीव, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है; स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता है;... यहाँ अधिक लिया। शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया का मैं कर्ता हूँ और उस क्रिया का भोक्ता मैं हूँ। ऐसा **पर के प्रति अहंकार-ममकार...** यह मैं, ये मेरे - ऐसा। यह मैं, ये मेरे - ऐसी **बुद्धि और एकत्वबुद्धि करता है;...** अहंकार-ममकार बुद्धि और एकताबुद्धि करता है। **इस कारण से इसको राग-द्वेष होते हैं...** आहाहा! **और राग-द्वेष से इसका संसारचक्र चलता ही रहता है।** आहाहा! मनुष्य मरकर पशु, पशु मरकर नारकी, नारकी में से ढोर, ढ़ोर मरकर एकेन्द्रिय। आहाहा!

जो चीज़ है ज्ञाता-दृष्टा, उसे अपनी न मानकर,... उसे माने तब तो पर से उदास हो जाये न ? परन्तु यह उदास नहीं, प्रेरक है पर का। आहाहा! मेरी प्रेरणा से देह की क्रिया होती है। मेरी प्रेरणा से। मैं ध्यान रखता हूँ तो शरीर में निरोगता रहती है। समझ में आया ? एक वृद्ध था, वह ऐसा चलता धीरे-धीरे। शरीर निरोगी। मैंने कहा, यह क्या चलता है ? फिर मैंने पूछा नहीं परन्तु दूसरे ने पूछा। त्रिभुवन विठ्ठल, लाठी। त्रिभुवन... विठ्ठल। तुमने नहीं देखा होगा। वृद्ध। शरीर बहुत अच्छा। मैंने कहा, इसे कुछ श्वास नहीं, कफ में रोग नहीं। और यह कैसे चलता है ? तब किसी ने पूछा। मुझे ऐसा कि... धीरे-धीरे चलने से शरीर को ठीक रहे। था निरोगी शरीर। त्रिभुवन विठ्ठल (की) कपड़े की दुकान थी न बाजार में! बाजार में। रतिलाल त्रिभुवन नहीं ? रतिलाल... मर गया न ? यहाँ रहा था। शरीर में जो धीरे चलते हैं तो श्वास का दबाव नहीं होता। ऐसा.. ऐसा... तो आयुष्य बढ़ता है। टूटता नहीं। अरेरे ! मार डाला। उस समय ऐसा कहा जाता

था, हों! श्वास जैसे कम लिये जायें, वैसे आयुष्य बढ़े। कहा, नारकी का श्वास बहुत है। तब की बात है। यह तो (संवत्) १९७१ की बात है। नारकी का श्वास तो बहुत है, तो भी मरता नहीं। ३३-३३ सागर रहता है। आहाहा! श्वास-धमणे और उलझन... उलझन... उलझन... कहीं श्वास ली जाये नहीं ऐसी दशा। ऐसे-ऐसे तो असंख्य भव, असंख्य वर्ष का एक पल्योपम। ऐसे-ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसे ३३-३३ सागर में अनन्त बार रहा। आहाहा! उसके श्वास का पार नहीं। श्वास के कारण रहे तो ३३ सागर जा आया है तू! श्वास तो बहुत आती है। समझ में आया? परन्तु शरीर के साताशीलिया ऐसे होते हैं न! यह सब वहाँ ही उसका ध्यान होता है शरीर में। ऐसे रखूँ। यह शरीर की एकत्वबुद्धि के लक्षण हैं, यह सब। मिथ्यात्व के। आहाहा! समझ में आया? यह सब फिर मरकर जानेवाले हैं पशु में, पशु होनेवाले हैं। पशु मरकर नरक में जायेगा। निश्चिन्तता से जायेगा फिर बहुत काल रहेगा। आहाहा! अरे! तू कौन? भाई! तुझे खबर नहीं, बापू!

कहते हैं **इसका संसारचक्र चलता ही रहता है।** है न अन्तिम शब्द? आहाहा!

श्लोक - १३

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह -

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥ १३॥

देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन? एतेन देहेन। निश्चयात् परमार्थेन। स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा। निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति॥१३॥

इस प्रकार मानकर वह क्या करता है? यह कहते हैं —

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध।
आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध॥ १३॥

अन्वयार्थ - (देहे स्वबुद्धि) शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, (निश्चयात्) निश्चय से (आत्मानं) अपने आत्मा को (एतेन) उसके साथ / शरीर के साथ (युनक्ति) जोड़ता है / सम्बन्ध करता है अर्थात् दोनों को एकरूप मानता है परन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधीः) अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा, (देहिनं) अपने आत्मा को (तस्मात्) उससे / शरीर से (वियोजयति) पृथक् / भिन्न करता है।

टीका - शरीर में[१] स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा क्या करता है? वह (अपने) आत्मा को, (शरीर के साथ) जोड़ता है-(उसके साथ) सम्बन्ध करता है; उसको दीर्घ संसारी करता है — ऐसा अर्थ है। किसके साथ (जोड़ता है)? निश्चय से अर्थात् निश्चित उस शरीर के साथ (जोड़ता है), किन्तु आत्मा में ही-जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा, निश्चय से उसे (आत्मा को), उससे (शरीर से) पृथक् करता है-(शरीर के साथ) असम्बद्ध करता है॥१३॥

भावार्थ - अज्ञानी बहिरात्मा, अपने शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है अर्थात् शरीर और आत्मा को एकरूप मानता है; जबकि ज्ञानी अन्तरात्मा, अपने आत्मा को, शरीर से भिन्न समझता है।

'यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एकरूप मानता है, किन्तु शरीर तो कर्मोदय के आधीन कभी कृश होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है और कभी नवीन उत्पन्न होता है — इत्यादि चरित्र होता है। इस प्रकार उसकी पराधीनक्रिया होने पर भी, जीव उसको अपने आधीन मानकर, खेद-खिन्न होता है..... ।[२]'

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से शरीर को ही आत्मा मानता होने से, उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस

---

१. पाटन जैन भण्डार की प्रति के आधार से समाधिशतक की टीका अनुवाद में श्रीयुत मणिलाल नमुभाई त्रिवेदी ने निम्न अनुसार लिखा है — 'बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि होती है और वह आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर, देह में ही बाँधकर रखता है अर्थात् दीर्घ संसार ताप में डाल देता है।'

२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५०-५१

गहन संसार वन में भटकता फिरता है तथा सदा संसार के तीव्र ताप से जलता रहता है।

अन्तरात्मा को शरीरादि में आत्मबुद्धि नहीं होती, किन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा में ही उसकी आत्मबुद्धि होती है; इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। वह भेदज्ञान के बल से ध्यान द्वारा-स्वरूपलीनता द्वारा, अपने आत्मा को शरीरादि के बन्धन से सर्वथा पृथक् करता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार दृष्टिभेद के कारण बहिरात्मा, पर के साथ एकत्वबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमता है, जबकि अन्तरात्मा, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा स्व के साथ सम्बन्ध जोड़कर, अन्ततः संसार के दुःखों से परिमुक्त होता है।

अनादि काल से शरीर को आत्मा मानने की भूल, जीव ने स्वयं ही अपने अज्ञान से की है और वही आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।

'शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मज्ञान से ही शान्त होता है॥१३॥[१]'

श्लोक - १३ पर प्रवचन

इस प्रकार मानकर वह क्या करता है? यह कहते हैं — १३ वीं गाथा।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥ १३॥

टीका - शरीर में स्वबुद्धि... यहाँ कुछ लिखा है। एकड़ा। **पाटन जैन भण्डार की प्रति के आधार से समाधिशतक की टीका अनुवाद में श्रीयुत मणिलाल नमुभाई त्रिवेदी ने निम्न अनुसार लिखा है—'बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि होती है और वह आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर,...** आहा! भगवान आत्मा में परम अतीन्द्रिय आनन्द है। उसे न पाने देकर यहाँ अटककर खड़ा है। आहाहा! देह के आचरण में, देह

---

१. श्री समाधितन्त्र, श्लोक-४१

की क्रिया में रुककर और परमानन्द का पाना होता नहीं। है ? इसलिए असमाधि होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देह के रक्षण की बुद्धि और यह मेरा, इसकी सम्हाल (उसमें) अकेली असमाधि उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। वह असमाधि है। आहाहा! पोपटभाई! आहाहा!

देह में ही बाँधकर रखता है... क्या कहते हैं ? **आत्मा को परमानन्द न हो पाने देकर,...** अर्थात् ? कि शरीर, वाणी, मन की क्रिया में उसे रुकने से यह मैं हूँ और इसका मुझे ध्यान रखना चाहिए, ऐसी आत्मबुद्धि उस आत्मा के परमानन्द को पाने नहीं देता। आहाहा! **देह में ही बाँधकर रखता है अर्थात् दीर्घ संसार ताप में डाल देता है।** दीर्घ संसारताप। ओहोहो! गजब बात है! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। सोलह हजार देव सेवा करे। ३२ हजार राजा चँवर ढाले। एक स्त्री की हजार देव सेवा करे, स्त्री रतन, वह ऐसे हीरा के पलंग में सोता था। पलंग में। हीरा के पलंग में, हों! एक-एक हीरा करोड़ का, ऐसा पूरा पलंग। सात सौ वर्ष का आयुष्य पूरा हुआ। मरकर ३३ सागर (नरक) में गया। आहाहा!!

मुमुक्षु : यहाँ सात सौ और वहाँ ३३।

पूज्य गुरुदेवश्री : ३३। भाई ने कहा न, ११ लाख पल्योपम। एक श्वास में... एक श्वास, इतने में उसने अनुकूल माना शरीर में। ग्यारह लाख पल्योपम का दुःख वहाँ है। गजब है न! आहाहा! ग्यारह लाख पल्योपम किसे कहते हैं ? बहुत तीव्रता देह में, वाणी में... साताशीलिया जिसे कहते हैं। पर में-शरीर में साता के स्वभाववाले। उस अनुकूलता के स्वभाववाले। आहाहा! उसे एक श्वास का दुःख। यहाँ श्वास का सुख। उसके फल में ११ पल्योपम का दुःख। पल्योपम कहा। समझ में आया ? आहाहा! एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। ऐसा एक पल्योपम। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम, ऐसे ३३ सागर। आहाहा! पड़ा है अभी नरक में। रव-रव नरक में पड़ा है। आहाहा!

भगवान चैतन्यदेह मेरा है, आनन्ददेह मेरा है, उसे भूलकर... आनन्द शरीर, वह मैं हूँ—ऐसा न मानकर, देह के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी, ऐसी मान्यता से उसे चार

गति में भटकना पड़ता है। आहाहा! भले त्यागी हो, साधु हुआ हो परन्तु अन्दर में वह राग की क्रिया, वास्तव में वह कार्मणशरीर है, उस कार्मण का फल है, उसे अपना मानकर उसमें रुक गया है। आहाहा! इससे उसे चैतन्य, देह और राग से भिन्न उसका भान नहीं होने से, उसमें मैं हूँ, ऐसी मान्यता से चार गति के भवों का चक्कर अनादि से करता है। आहाहा!

टीका - शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा... बहिर् है न बाह्य? राग, वह बाह्य है, शरीर बाह्य है, वाणी बाह्य है, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-मकान-इज्जत-कीर्ति-पैसा यह सब बाह्य चीज़ें हैं। आहाहा! इन बाह्य चीज़ों में **(शरीर के साथ) जोड़ता है...** आहाहा! पाठ यह है न? देखो न! स्वबुद्धि। '**युनक्ति**' '**युनक्ति**' '**युनक्ति**' अर्थात् जोड़ता है। जो भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें न जुड़कर राग और शरीर की क्रिया में जुड़कर एकाकार हो गया है। आहाहा! समझ में आया? दोनों को एकरूप मानता है। **उसको दीर्घ संसारी करता है...** आहहा! शरीर, वाणी, मन वहाँ आत्मा जुड़ता है। जो इसके बिना का है, तो भी उसमें जुड़कर एकत्वबुद्धि मानकर... आहाहा! बहुत संक्षिप्त में सब न्याय दिये हैं। **दीर्घ संसार...** चार गति में भटकने का दीर्घ संसार खड़ा करता है। ओहोहो! **ऐसा अर्थ है।**

किसके साथ (जोड़ता है)? निश्चय से अर्थात् निश्चित उस शरीर के साथ (जोड़ता है),... सवेरे उठे, एकदम आँखें रगड़ना ऐसे हो वह सब... फिर (आँखों का) चिकनापना निकाले, फिर दाँतुन करे, मुँह साफ करे। मुँह साफ करे, फिर चाय पीवे। फिर खाखरा खाये। क्यों खाखरा कहते हैं न? सवेरे खाखरा खाये। उसमें फिर आम का अचार हो तो आम की फाँक के साथ खाखरा खाये। आहाहा! क्या कहते हैं यह? वहाँ जुड़ गया है, ऐसा कहना है। और फिर और कंघी करे वापस थोड़ा। ऐसे नहीं करते? इस ओर के बाल ऐसे उतारे, इस ओर के बाल ऐसे उतारे। फिर ऐसे दर्पण में इस तरह करके देखे। तिलक लगाने को। पागल है। आहाहा! ....कोळी था? कौन था? कोळी था वह? यहाँ काम करता था वह। हरिजन था? चमार। यह काम करता था। यहाँ बैठा रहता था। मस्तिष्क फिर गया था। आज आये हैं। मनो हरिजन। यह... किया तब से काम करता था वह ठेठ तक। कोई कामकाज न हो तो बैठा रहे। हम जायें

तब देखें कि बैठा है। पूरे दिन काम न हो इसलिए बैठे। फिर तो मस्तिष्क फिर गया था। लोग लाये थे, चरण वन्दन के लिये, यहाँ तो बाह्य से मस्तिष्क फिर गया। वह अन्तर मस्तिष्क फिर गया है अनादि का। आहाहा!

शरीर में साता से सुखी माने, शरीर में असाता से दुःखी माने। यह सब आ गया है। आयेगा। शरीर का स्थूलपना वह भी मैं। वस्त्र का दृष्टान्त देंगे न, पतलापन वह मैं, रूपवानपना-गोरापन वह मैं। गेहूँवर्ण रंग शरीर का, वह मैं। मैं काला हूँ, आहाहा! भाई! तेरा अस्तित्व कहाँ है? तू भूला। दीवार को भूला, बापू! ऐसी चीज़ में से निकल जाना चाहिए और भगवान आत्मा में वास होना चाहिए। शरीर, वाणी, मन के संग में से छूटकर आत्मा आनन्दस्वरूप में प्रभु! तेरा वास चाहिए, तेरी चीज़ में वास चाहिए। उसे छोड़कर पर के वास में बसे... आहाहा! कहते हैं, यह चार गति में शरीर के साथ जोड़कर शरीर किया ही करता है। अब सुलटा।

किन्तु आत्मा में ही-जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा,... समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा राग से रहित है। आत्मा में है न! शरीर की कोई भी पर्याय की क्रिया से एकदम अत्यन्त अभाव है। अरे..! यह तो ठीक परन्तु राग का विकल्प जो है, उससे भी अत्यन्त अभावस्वभावस्वरूप है भगवान। आहाहा! परद्रव्य के अभावस्वभावस्वरूप तो है परन्तु इस राग के भाव से भी अभावस्वभावस्वरूप है। आहाहा! वहाँ इसकी दृष्टि होनी चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु बहुत कठिन काम! आहाहा!

कहते हैं, भाई! **जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला...** है न? वह पर स्वरूप में आत्मबुद्धिवाला। आहाहा! **अन्तरात्मा, निश्चय से उसे (आत्मा को), उससे (शरीर से) पृथक् करता है...** आहाहा! अन्तर आत्मा और वह बहिरात्मा। वस्तु में राग और शरीरादि, वाणी आदि नहीं है। नहीं, उसके साथ जुड़ान करता है, वह संसार में भटकता है-रुलता है। आहाहा! और आत्मा में अन्तर स्वरूप में, जो अन्तरात्मा में जोड़ता है जीव को—स्वयं को। **(शरीर के साथ) असम्बद्ध करता है।** अस्ति-नास्ति की है। वह शरीर और राग के साथ सम्बन्ध करता है। सं-बन्ध। यह आत्मा और यह चैतन्यस्वरूप

की दृष्टि से शरीर के साथ असम्बन्ध रखता है। आहाहा! नारियल का गोला जैसे अन्दर पृथक् रहता है। भले वह काचली में पड़ा दिखाई दे, परन्तु है काचली से पृथक्। इसी प्रकार शरीर में आत्मा हो, तथापि वह राग और शरीर से भिन्न तत्त्व है। आहाहा! इस प्रकार वास रखता है आत्मा का। उसे यहाँ अन्तरात्मा कहते हैं। आहाहा! ऐसी कोई क्रिया करे तो अन्तरात्मा, ऐसा नहीं कहा। व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे तो वह अन्तरात्मा है, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा!

यह विकल्प और राग और शरीर, मन और वाणी, सबसे भिन्न पड़कर... आहाहा! जिसका आत्मा आत्मा में दृष्टि से बसता है। आहाहा! उस अन्तरात्मा ने शरीर का सम्बन्ध छोड़ दिया है। अर्थात् भविष्य में भी उसे शरीर मिलेगा नहीं। आहाहा!

भावार्थ - अज्ञानी बहिरात्मा, अपने शरीर में स्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है अर्थात् शरीर और आत्मा को एकरूप मानता है; जबकि ज्ञानी अन्तरात्मा, अपने आत्मा को, शरीर से भिन्न समझता है। ... शरीर को एकरूप। शरीर को अपना अंग जानकर। अंगीत जानकर। ऐसा नहीं कहते कि यह हमारे अंगत व्यक्ति हैं। गुप्त बात करनी हो तो इनसे हम करते हैं। अंगीत हैं हम। धूल भी नहीं अंगीत अब, सुन न! आहाहा! तेरे अंग तो ज्ञान-दर्शन अंगी तो तू है। उसमें अंग यदि हो तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द, वह तेरे अंग हैं। आहाहा! उन्हें छोड़कर...

'यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एकरूप मानता है, किन्तु शरीर तो कर्मोदय के आधीन कभी कृश होता है,... कर्म के उदय प्रमाण किसी समय रोग हो जाये, पतला पड़ जाये। आहाहा! **कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है... .... कभी नवीन उत्पन्न होता है—इत्यादि चरित्र होता है। इस प्रकार...** आचरण शरीर में होते हैं। आहाहा! **इस प्रकार उसकी पराधीनक्रिया होने पर भी,...** वह पराधीन होता है न? शरीर कृश, निर्बल, यह कहाँ उसके (आत्मा के) आधीन है? आहाहा! **जीव उसको अपने आधीन मानकर, खेद-खिन्न होता है...** मोक्षमार्गप्रकाशक का है यह। पृष्ठ २४ है न।

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से... देह के अध्यास से... 'छूटे देहाध्यास

तो...' आता है न? '(छूटे) देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म, नहीं भोक्ता तू उनका यही धर्म का मर्म।' यह **देहाभ्यास से मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से शरीर को ही आत्मा मानता होने से, उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस गहन संसार वन में...** आहाहा! लाखों वृक्ष हों, लगातार बीच में अन्तर भी थोड़ा हो। उसमें जा चढ़ा हो और फँस गया हो, निकलना कैसे इसमें से? इसी प्रकार यह चौरासी के अवतार में शरीर में फँस गया है। संसार बड़ा वन। अनेक शरीर की उत्पत्ति के क्षेत्र में स्वयं फँस गया है। संसार, इस जाति का चारित्र है यह।

उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस गहन संसार वन में भटकता फिरता है तथा सदा संसार के तीव्र ताप से जलता रहता है। खेदखिन्न... आकुलता... आकुलता... आकुलता। भगवानस्वरूप, शान्तस्वरूप, शान्त अकषायस्वरूप। अकषाय द्रव्य, अकषाय गुण, अकषाय पर्याय। आहाहा! उसे अपना न मानकर यह शान्त... शान्त... शान्त... अकषाय स्वभाव वही मुझमें विस्ताररूप से पड़ा है। रागादि, शरीर मैं हूँ, ऐसा इसने माना है। आहाहा! भले धर्म का नाम देकर क्रिया करे, परन्तु वह सब अज्ञान की क्रियायें हैं। आहाहा!

अन्तरात्मा को शरीरादि में... दो बात थी न इसलिए पहले यह कहा। **शरीरादि में आत्मबुद्धि (ममत्वबुद्धि) नहीं होती,...** शरीर में, वाणी में, मन में, राग में वह मेरे हैं, (ऐसा नहीं), हम तो उनसे पृथक् हैं। आहाहा! **किन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा में ही उसकी आत्मबुद्धि होती है;...** यह आया, देखो! शरीर का अंग अज्ञानी अपना मानता है, तब (ज्ञानी) उसे अपना अंगी ऐसा आत्मा, उसके ज्ञान-दर्शन, उसके अंग उसे मानता है। आहाहा! पहला सम्यग्दर्शन धर्म की क्रिया में पहला प्रधान तो यह है। उसे छोड़कर दूसरी बातें करे... आहाहा! उसका संसार नहीं टलता। कोई स्वर्गादि मिले तो वह तो वह का वही है।

इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। आहाहा! प्रवचनसार में आया है न? शरीर का मैं कर्ता नहीं। शरीर का योजक-योजना करनेवाला मैं नहीं। कि इसका ऐसा रखना, इसका ऐसा रहना। आहाहा! शरीर का मैं अनुमोदन (करनेवाला) नहीं। शरीर की होनेवाली क्रिया में मेरा कारण

नहीं। वाणी आदि होती क्रिया में मेरा कारण नहीं। निमित्तकारण तो है न? वह कारण ही नहीं। आहाहा! है? शरीरादि को पुद्गल का पिण्ड समझता है। शरीर को सदुपयोग में लगाना, ऐसा कहते हैं। भाई आये थे न, ढेबरभाई। शरीर का सदुपयोग। सदुपयोग क्या? ... शरीर से अच्छे काम करना। दूसरे को... शरीर से करता है? आहाहा!

इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। वह भेदज्ञान के बल से ध्यान द्वारा-स्वरूपलीनता द्वारा, अपने आत्मा को शरीरादि के बन्धन से सर्वथा पृथक् करता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह (बहिरात्मा) संसार चक्र में बढ़ जाता है भटकने। यह मुक्त हो जाता है। (पर के साथ) सम्बन्ध तोड़कर, स्व के साथ सम्बन्ध जोड़कर अन्त में संसार के दुखों से सर्वथा मुक्त होता है। इस गाथा के दो भाव किये।

अनादि काल से शरीर को आत्मा मानने की भूल, जीव ने स्वयं ही अपने अज्ञान से की है... समझ में आया? कर्म ने करायी है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। ... है वहाँ। **वही आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।** यह दो बात है। बहुत संक्षिप्त कर दिया यह। अनादि काल से शरीर, वाणी और मन तथा उन्हें अपने मानने की भूल जो स्वयं अपनी अज्ञानता से है, कर्म से नहीं। ओहोहो! कर्म का उदय और राग के बीच तो अत्यन्त अभाव है। कर्म के कारण राग नहीं। आहाहा! राग और आत्मा के स्वभाव के बीच भी अत्यन्त अभाव है। भले उसकी पर्याय में है तो अस्ति है उसकी, समझ में आया? परन्तु उस राग को और स्वभाव चैतन्यघन को, दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? इस प्रकार धर्मी जानता हुआ, अनुभवता हुआ... आहाहा! **आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।** यह भूल है, वह कोई क्रिया करे, व्रत करे, तप करे और सुधर सके—ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन बात है।

शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मज्ञान से ही शान्त होता है। समाधि उत्पन्न करता है यह... श्लोक आगे आयेगा। नीचे है न? १४।

श्लोक - १४

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमा-चार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह -

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥ १४॥

जाताः प्रवृत्ताः। काः ? पुत्रभार्यादिकल्पनाः। क्व ? देहेषु। कया ? आत्मधिया। क्व ? देहेष्वेव। अयमर्थः- पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादि-कल्पना विकल्पा जायन्ते। ताभिश्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च। सम्पत्तिं पुत्र-भार्यादिविभूत्यतिशयं आत्मनो मन्यते जगत्कर्तृस्वरूपाद् बहि-र्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः हा हतं नष्टं स्वस्वरूप-परिज्ञानाद्॥१४॥

शरीर में आत्मा का सम्बन्ध जोड़नेवाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को बतलाकर खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं —

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव।
परिग्रह माने आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव॥ १४॥

अन्वयार्थ - (देहेषु) शरीरों में (आत्मधिया) आत्मबुद्धि के कारण से, (पुत्र-भार्यादि कल्पनाः जाताः) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। (हा) खेद है कि (जगत्) बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण, (ताभिः) उन कल्पनाओं के कारण से, (सम्पत्तिम्) स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को, (आत्मनः) अपनी समृद्धि (मन्यते) मानते हैं। इस प्रकार यह जगत (हतं) घाता जा रहा है।

टीका - उत्पन्न हुई-प्रवर्ती। क्या (प्रवर्ती) ? पुत्र-स्त्री आदि सम्बन्धी कल्पनाएँ। किसके विषय में ? शरीरों में। किस कारण से ? आत्मबुद्धि के कारण से। किसमें आत्मबुद्धि ? शरीरों में ही। तात्पर्य यह है कि पुत्रादि के देह को जीवरूप माननेवाले को, 'मेरा पुत्र, मेरी स्त्री'—ऐसी कल्पनाएँ-विकल्प होते हैं। अनात्मरूप और अनुपकारक, ऐसी उन कल्पनाओं से पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को जगत अपनी मानता है। अरे! स्वस्वरूप के परिज्ञान से रहित, बहिरात्मरूप जगत-प्राणिगण घाता जा रहा है॥१४॥

भावार्थ - देह में आत्मबुद्धि के कारण, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्माएँ, स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धों में अपनेपन की कल्पनाएँ करते हैं और उनकी समृद्धि को, अपनी समृद्धि मानते हैं, इस प्रकार यह जगत घाता जा रहा है—यह खेद की बात है।

जब तक जीव को शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक उसको अपने निराकुल निजानन्दरस का स्वाद नहीं आता और वह अपनी अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति से अनजान रहता है। वह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर, उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है। जिसके फलस्वरूप उसका संसार-परिभ्रमण चालू रहता है; अतः आचार्य खेद दर्शाते हुए कहते हैं कि, 'हाय! यह जगत मारा गया! नष्ट हुआ! इसको अपना कुछ भी भान नहीं रहा!'

विशेष स्पष्टीकरण -

'.....तथा किसी समय किसी प्रकार अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन स्त्री-पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है और उसी बुद्धि से उनको उपजाने की, बढ़ाने की तथा रक्षा करने की चिन्ता द्वारा निरन्तर आकुल रहता है; नाना प्रकार के दुःख वेदकर भी, उनका भला चाहता है..... '[१]

''मिथ्यादर्शन द्वारा यह जीव, किसी समय बाह्यसामग्री का संयोग होने पर, उसको भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, मन्दिर (मकान) और नौकर-चाकरादि जो स्वयं से प्रत्यक्ष भिन्न हैं, सदा काल अपने अधीन नहीं — ऐसा स्वयं को ज्ञात हो तो भी उनमें ममकार करता है।[२] *पुत्रादि में 'यह है, वह मैं ही हूँ' — ऐसी भी किसी समय भ्रमबुद्धि होती है। मिथ्यादर्शन से शरीरादि का स्वरूप भी अन्यथा ही भाषता है॥१४॥*[३] *''*

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ८२

२. वपु गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः। सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥

अर्थात् जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है (अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेषादि विकारी परिणतिरूप क्षोभ-विक्षेप नहीं है) तथा जो तत्त्व में (आत्मस्वरूप में) भले प्रकार स्थित है — ऐसे योगी को सावधानीपूर्वक (अर्थात्, आलस, निद्रादि के परित्यागपूर्वक) एकान्त स्थान में अपने आत्मतत्त्व का अभ्यास करना। *(-श्री इष्टोपदेश, कलश ८)*

३. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ९२

श्लोक - १४ पर प्रवचन

शरीर में आत्मा का सम्बन्ध जोड़नेवाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को बतलाकर... उसके निन्दनीय व्यापार को बताकर **खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं—**

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥ १४॥

'हा हतं जगत्' अरे रे! जगत घाता गया है। आचार्य कहते हैं, देखो! हा! हा! जगत। अरे रे! अपनी जाति को राग से और पर से भिन्न न मानकर, राग, शरीर और वाणी की क्रिया एक मानकर, अरे रे! आचार्य कहते हैं, **'हा हतं जगत्'** जगत घाता जा रहा है। आहाहा!

टीका - उत्पन्न हुई-प्रवर्ती। क्या (प्रवर्ती)? पुत्र-स्त्री आदि सम्बन्धी कल्पनाएँ। किसके विषय में? शरीरों में। किस कारण से? आत्मबुद्धि के कारण से। आहाहा! **किसमें आत्मबुद्धि? शरीरों में ही। तात्पर्य यह है कि पुत्रादि के देह को जीवरूप माननेवाले को,...** आहाहा! मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरी पुत्री। आहाहा! उसके शरीर को ही मानता है, हों! **देह को जीवरूप माननेवाले को, 'मेरा पुत्र,...** शिक्षा बहुत प्राप्त करे तो कहे, यह मेरा पुत्र है। इसका उसे मान (होता है)। आहाहा! पुत्री बहुत पढ़ी हुई हो एम.ए. और एल.एल.बी. उसका इसे मान। आहाहा! यह मेरे हैं। देखो! कैसे बढ़े हैं!

आत्मबुद्धि के कारण से। किसमें आत्मबुद्धि? शरीरों में ही। 'मेरा पुत्र, मेरी स्त्री'—ऐसी कल्पनाएँ-विकल्प होते हैं। आहाहा! ऐसी यह मेरी पाठशालायें, मेरे मन्दिर, हमारे घर, हमारे शिष्य, हमारा संघ। आहाहा! **अनात्मरूप और अनुपकारक, ऐसी उन कल्पनाओं से...** कल्पना है, वह अनात्मरूप है, जड़ राग। अनुपकारक है। वह आत्मा को कुछ उपकार करनेवाली नहीं है। **ऐसी उन कल्पनाओं से...** आहाहा! **पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को...** पुत्र, स्त्री, सात-आठ लड़के हों, लड़कियाँ हों, दामाद हों, विवाह का प्रसंग हो और इकट्ठे बैठे हों। ओहोहो! मानो

चक्रवर्ती बैठा हो! यह सब मेरी सम्पदा और यह मेरा सब। आहाहा! भाई! तू कहाँ गया? तुझमें से हटकर तू कहाँ तेरा मानता है! आहाहा! जिस तत्त्व का तुझमें अभाव है, उस तत्त्व का मुझमें भाव है... आहाहा! ऐसा विपरीत बुद्धि से ये कल्पनायें अनात्मरूप अनुपकारक। उपकारक है, यह विकल्प है?

ऐसी उन कल्पनाओं से पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को... देखो! इसे सम्पत्ति कहा। **जगत अपनी मानता है। अरे! स्वस्वरूप के परिज्ञान से रहित,...** राग के विकल्प और शरीरादि की क्रियायें या अवस्थायें या शरीर, इनसे भिन्न ऐसा भगवान... आहाहा! **स्वरूप के परिज्ञान से रहित, बहिरात्मरूप जगत-प्राणिगण घाता जा रहा है।** जगत घाता जा रहा है अर्थात् प्राणीगण, ऐसा। अरेरे! प्राणियों का समूह घाता जा रहा है। '**हतं**' खेद है। अपनी सम्पदा को भूलकर बाहर की सम्पदाओं के सम्बन्ध में मैं हूँ... आहाहा! अरे रे! जगत घाता गया है। देखो करुणा! आहाहा! पाठ है न, देखो न! '**हा हतं जगत्**' आहाहा! जगत अर्थात् प्राणीगण कहा न? जगत दूसरी क्या चीज़ है? प्राणियों के झुण्ड घाते जा रहे हैं। आहाहा!

भावार्थ - देह में आत्मबुद्धि के कारण, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्माएँ,... बहिर् वस्तु को अपनी माननेवाले बहिरात्मा मूढ़-मिथ्यादृष्टि, **स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धों में अपनेपन की कल्पनाएँ करते हैं और उनकी समृद्धि को,...** पुत्र रूपवान हो, पुत्रियाँ रूपवान हों, स्त्री रूपवान हो, मकान अच्छे हों, पैसे ठीक हों... आहाहा! **उनकी समृद्धि को,...** अर्थात् उनकी समृद्धि। शरीर की, वाणी की, पैसे की। **अपनी समृद्धि मानते हैं,...** अरे! **इस प्रकार यह जगत घाता जा रहा है...** बहुत समाधि की बात है न यह तो। असमाधि से घात हो रहा है। समाधि और असमाधि दो की बात है। आहाहा!

पर वस्तु के प्रेम में, आकुलता में... अरे! जगत घाता जा रहा है। अपना भगवान आत्मा जिसके साथ प्रेम और एकत्व होना चाहिए, उसे छोड़कर, अरे! यह जगत घाता जा रहा है। यह खेद की बात है। आहाहा! तुम किसलिए खेद करते हो? भाई! यह विकल्प आवे करुणा का। 'करुणा उपजे जोई', नहीं आता? श्रीमद् में नहीं आता? 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई, माने मार्ग मोक्ष का (करुणा उपजे जोई)...'

यह करुणा अकषाय है, वह विकल्प है। आता है। 'कोई क्रिया जड़ हो रहे।' यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में धर्म मानकर चिपटे हैं। कोई शुष्क ज्ञान की बातें करे, परन्तु राग से भिन्न आत्मा को जाने नहीं। आहाहा! 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई, माने मार्ग मोक्ष का...' इस देह में मोक्ष का मार्ग है, ऐसा मानता है। करुणा उपजे जोई।

जब तक जीव को शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक उसको अपने निराकुल निजानन्दरस का स्वाद नहीं आता... एक न्याय से तो ऐसा कहा कि आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं तो कहीं इसका स्वाद रुक गया है। आहाहा! इसे राग का स्वाद आता है। जड़ का तो स्वाद नहीं (आता), इसे अपना मानने में मिथ्यात्वभाव का इसे स्वाद आता है। इसे आत्मा के आनन्द के स्वाद का अभाव है। आहाहा! कहते हैं कि बहिरात्मपने का स्वरूप क्या? बाह्य अपने माने, यह बात रही परन्तु यह कैसे? कहते हैं। आहाहा! यह भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु... आहाहा! जिसे आनन्द का अन्तर में स्वाद का अभाव है, वह यह सब असमाधि के स्वाद को अनुभव करता है। समाधि-असमाधि है सही न? आहाहा! समझ में आया?

जब तक इसे पर में अपनेपने की बुद्धि है, तब तक इसे अपने निराकुल निजात्म रस का स्वाद आता नहीं। **और वह अपनी अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति से अनजान रहता है।** पर को अपना मानने में रुका हुआ आकुलता का वेदन करता है। निजानन्द के स्वरूप का इसे स्वाद नहीं; इसलिए इसे अनन्त चतुष्टय जो भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य-पुरुषार्थ स्वभाव का इसे अज्ञान है। अपना स्वरूप बेहद अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य मुख्य। यह अनन्त चतुष्टय का स्वरूप हूँ, उसका यह अज्ञान है, अज्ञात है। आहाहा! मेरी अस्ति और मैं, वह तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, वीर्य, वह मैं। इसका अज्ञान और अज्ञात होने से... आहाहा! ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप भगवान आत्मा को न जानने से **वह स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्यादि बाह्य सम्पत्तियों को...** देखा! अन्तर सम्पत्ति को न जानने से। ऐसा।

अनन्त ज्ञानस्वभाव है न? स्वभाव है, उसे हद क्या? मर्यादा क्या? अपूर्णता

क्या ? आहाहा ! ऐसा आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन— ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप आत्मा का अनादि अज्ञानी अज्ञात है। आहाहा ! समझ में आया ? और **बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर,...** आहाहा ! ऐसी चीज़ अन्दर है, उसकी इसे खबर नहीं। इसलिए अपनी सम्पत्ति का अज्ञात और परसम्पत्ति में मैंपना मानकर बैठा है। आहाहा ! **बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर, उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है।** अनुकूल संयोग हो तो हर्ष, प्रतिकूल संयोग हो तो द्वेष। यह तो सब बाह्य सम्पत्ति है। यह कहीं तेरी नहीं है। आहाहा !

सुखी हैं अभी। लड़के काम में लग गये हैं। हमारी उम्र ६० वर्ष की हुई परन्तु २५-२५ वर्ष के लड़के... व्यापार-धन्धे में लग गये हैं। अभी हम सुखी हैं। ऐसा कहते हैं न ? कहते हैं ? लड़के काम में लग गये हैं। दो-तीन लड़के काम में लगे। एक-दो हैं, वे छोटे हैं, वे पढ़ते हैं। परन्तु सब चलता है। अभी दो वर्ष से। यह तो अभी कहते थे, नहीं ? यह मर गये न लड़के ? रमणीक। सूरत, उसका मामा कहता था। मैंने कहा, यह लड़का किसका है ? तो कहे ... वर्ष, दो वर्ष में तैयार हो जायेगा। दुकान-बुकान जाने को। ऐसा कहते थे। वर्ष-दो वर्ष में तैयार हो जायेगा। क्या तैयार हुआ उसमें ? वह ४२ वर्ष का मर गया न यह ? हमारे फावाभाई के लड़के का लड़का। फावाभाई की लड़की का लड़का। आहाहा ! मैंने कहा, यह क्या बोलता है ?

मुमुक्षु : गिनती कितनी लम्बाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कितनी गिनती ? ऐसे २५-३० लाख रुपये लड़के के पास हैं। मनहर-मनहर। उसकी बहिन का लड़का मर गया ४२ वर्ष का। कुछ रोग नहीं, हों ! डॉक्टर जान नहीं सके। आठ दिन कुछ निमोनिया हो गया। परन्तु वह कहीं जान नहीं सके। जीव उड़ गया। उसका लड़का आवे... लड़का... दो लड़के तैयार हैं। बैठते हैं न दुकान में। वर्ष, दो वर्ष में दुकान शुरु हो जायेगी। कहो, पोपटभाई ! ऐसा चलता है या नहीं ? ऐसा ही चलता है। आहाहा !

संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करता है। परन्तु ५० वर्ष में लड़का आया। भाई ! नाम रखा। नहीं तो हमारा वंश चला जाता। यह दस लाख की पूँजी ले जाते कोई। देवर का लड़का ले जाता। अब लड़का हुआ है, अब तो... स्त्रियों को भी ऐसा बहुत होता

है। अपने भी पूँजी इतनी दस लाख की और लड़का कोई नहीं। यह देवर का लड़का है। अब हक तो इसे लागू पड़ेगा और यह ५०-५५ वर्ष हो गये हैं। आहाहा! अरे! भगवान! यह लक्ष्मी कहाँ तेरी? बापू! तू कहाँ? आहाहा! और कोई ले जायेगा और किसी को नहीं रहे और यह लड़का है, उसे रहेगी। क्या लगायी है तूने यह? आहाहा! तूने कर्मजाल माँडी है। मछलियाँ जैसे पकड़ में आती है न? क्या कहलाती है वह? जाल में। इसी प्रकार यह अज्ञान की जाल। आहाहा! पकड़ा गया, भाई! तू अपने आप पकड़ा गया है।

कहते हैं कि अरेरे! ऐसे फलस्वरूप **जिसके फलस्वरूप उसका संसार-परिभ्रमण चालू रहता है; अतः आचार्य खेद दर्शाते हुए कहते हैं कि, 'हाय! यह जगत मारा गया!** आहाहा! प्राणीगण मारे गये हैं। **नष्ट हुआ! इसको अपना कुछ भी भान नहीं रहा!** अरेरे! मैंने क्या किया? मैं कहाँ जाऊँगा? मैं कहाँ हूँ और कहाँ जाऊँगा? कुछ भान नहीं होता। इसी इस घूँटण में। आहाहा! ...चक्कर एक शरीर जाये और दूसरा मिले। दूसरा टले और तीसरा मिले। आहाहा! अरहट... अरहट होता है न? निचले में पानी भरे और ऊपर के खाली हों। अरहट। आहाहा! इसी प्रकार एक शरीरादि का संयोग जाये, मूढ़ है, चैतन्य की तो खबर है नहीं। आहाहा! दूसरे शरीर का भराव आवे। यह खाली हो और वह आवे... खाली हो और आवे। भगवान को संयोग-वियोग हुआ करे। आहाहा! यह कुछ भी भान रहा नहीं। आहाहा!

विशेष -' ...तथा किसी समय किसी प्रकार अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन स्त्री-पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है... अपने विचारानुसार लड़के चलें। देखो, बापू! कैसे हमारे लड़के! हमारी आज्ञा चलती है। **इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव, उन शरीर...** देखा! हमारा है, बापू! हमने फैलाया है। **और उसी बुद्धि से उनको उपजाने की,...** फिर वही बुद्धि उसे उपजाने की **बढ़ाने की तथा रक्षा करने की चिन्ता द्वारा निरन्तर आकुल रहता है; नाना प्रकार के दुःख वेदकर भी, उनका भला चाहता है।** आहाहा! दुकान में गन्दे वस्त्र पहनकर, ...होवे कारीगर बारीगर तो धन्धा करे... करे। यह मजदूरी कर-करके मर जाता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)